युग सेतु

वर्ष 7 अंक 70 जुलाई 2017

वेबसाइट : www.yugsetu.com
&
www.yugsetu.simplesite.com

संपादक
ओम प्रकाश शर्मा

कार्यालय
जी-21, प्रथम तल, लक्ष्मी नगर
दिल्ली-110092
दूरभाष-011-22040692

संपर्क कार्यालय
873, सेक्टर-21सी, हरियाणा-121001
दूरभाष-9013379808, 9650914297

ई.मेल : yugsetu@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक ओम प्रकाश शर्मा द्वारा, जी 21 लक्ष्मी नगर, दिल्ली से प्रकाशित एवं ग्राफिक प्रिंट, 383 एफ.आई.ई.पटपड़गंज इंडस्ट्रीयल एरिया, दिल्ली 110092 से मुद्रित।

अंदर के पन्नों में .....

संपादकीय (2)

ललित सौन्दर्य की पृष्ठभूमिः भक्ति और रीतिकाल (6)

सादगी के प्रतीक थे राजेन्द्र प्रसाद (8)

जिन्ना के जीवन का आखिरी दिन (11)

अपनी दुनियाँ स्वयं बनाए (14)

मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम क्यों हो? (22)

लघुकथाएँ (25)

प्रेस की आजादी के मायने (26)

सामयिकी (48)

विविध (50)

युग सेतु में लेखकों के प्रकाशित आलेखों के विचारों से संपादक या प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
किसी भी विवाद का निबटारा दिल्ली न्यायालय में होगा।

सत्यांश

आस्था और आहार बीच डोलता लोलक

माननीय सर्वोच्च न्यायालय के दिशानिर्देशों के आलोक में केन्द्र सरकार द्वारा पशुओं की तस्करी, वध के लिए अवैध खरीद-बिक्री और उन्हें क्रूरता से बचाने के निमित्त पशु क्रूरता निवारण/पशुधन बाजार विनियमन अधिनियम 2017 के अंतर्गत किए गए प्रावधानों को लेकर गरमागरम बहस और प्रदर्शन की धार देश भिन्न-भिन्न हिस्सों में भड़के किसान आंदोलन के कारण मंद तो हुई, लेकिन चर्चा-प्रदर्शन के केंद्र में पहले की ही भाँति गाय और उसके मांस ने सबका सर्वाधिक ध्यान खींचा। यह अधिसूचना गायों को ही लेकर नहीं जारी हुई है। निस्संदेह, इसके दायरे में आने से गायें भी वंचित नहीं होंगी। पश्चिम बंगाल, केरल, जम्मू-कश्मीर और पूर्वोत्तर को छोड़कर सभी राज्यों में गोवध पर कानूनी प्रतिबंध ा है, लेकिन चोरी-छुपे जगह-जगह गोवध बदस्तूर चलते रहने के कारण हंगामा होता रहता है, क्योंकि गाय और उसका मांस सांप्रदायिक संवेदना को स्वीकारात्मक और निषेधात्मक दोनों रूपों में गहरे में उद्दीप्त करता है। यही कारण है कि केरल में युवा कांग्रेसियों ने विरोधस्वरूप सरेराह बछड़े को काटा। केरल व पूर्वोत्तर में कुछएक स्थानों पर उग्र प्रदर्शन के दौरान गाय के मांस को प्रसाद रूप में वितरित किया गया। केरल के ज्यादातर विधायकों ने गोमांस चखकर विधानसभा के विशेष सत्र का प्रयोजन सिद्ध किया। तमिलनाडु में भी विरोध की आवाज उठी। केन्द्रीय गृहमंत्री राजनाथ सिंह के आगमन से ठीक पहले मिजोरम में लोगों ने बीफ खाकर विरोध जताया। मेघालय के बाचू मराक, बर्नाड मराक जैसे स्थानीय नेताओं ने भाजपा से इस्तीफा दे दिया।

नेपाल के गढ़ीमाई त्योहार के लिए भारत से हजारों-हजार की संख्या में हर साल हो रही पशुओं की तस्करी को रोकने के लिए दायर याचिका 'गौरीमौलेखी बनाम भारत सरकार' का निबटारा करते हुए 12 जुलाई, 2016 को सर्वोच्च न्यायालय ने पशु क्रूरता अधिनियम, 1960 की धारा 38 के अधीन तीन महीने के अंदर विस्तृत रूपरेखा तैयार करने के लिए कहा था। इसी परिप्रेक्ष्य में लगभग दस महीने बाद अधिसूचना जारी हुई है। जाहिर है कि गढ़ीमाई त्योहार में एक-दो दिनों के भीतर ही लाखों जानवरों को बर्बरतापूर्वक काटकर बलि दी जाती है। इनमें आधे से अधिक की आपूर्ति बिहार, झारखंड, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश जैसे सीमावर्ती राज्यों से अवैध तरीकों से की जाती है। अधिसूचना का मकसद पशुओं के प्रति क्रूर परंपराओं पर लगाम लगाना है। पशु मेले में खरीद-बिक्री करने वालों के लिए संबंधित बाजार समिति, पशुपालन विभाग, पशु चिकित्सा पदाधिकारी के समक्ष अपनी पहचान का प्रमाण देना अनिवार्य बना दिया गया है। खरीदे-बेचे गए मवेशी बैल, भैंस, गाय, ऊँट, बछिया आदि की हत्या नहीं होगी - यह स्पष्ट करना होगा।

नई सरकारी अधिसूचना में कषि-कार्य, पशुपालन, दुग्ध उत्पादन और प्राणिमात्र पर आसन्न संकटों को कम करने का उपाय है, तो फिर विरोधि ायों द्वारा इसे संघीय ढाँचे पर प्रहार, देश की अर्थव्यवस्था को कमजोर करने वाला, आयात-निर्यात को हतोत्साहित करने वाला, कषि व पशुपालन क्षेत्र की आय कम करने वाला, चमड़ा उद्योग को चौपट करने वाला, रोजगार, व्यवसाय बाजार को नष्ट करने वाला तथा अनुपयोगी जानवरों के 'सदुपयोग' हेतु बिक्री पर असर डालने वाला क्यों बताया जा रहा है? गोधन-पशुधन को चाहे अब सर्वोत्तम धन न भी माना जाए, पर यह आज भी महत्त्वपूर्ण तो है।

इससे दूध, दही, घी, गोबर, खाद, परिवहन, मनोरंजन तथा शानशौकत की जरूरतें पूरी होती हैं। भारत की कर्षि-आय में पशुपालन का अंशदान लगभग पच्चीस प्रतिशत है और सकल घरेलू उत्पाद आय में पशुपालन का योगदान चार प्रतिशत है, बेशक इसमें बड़ा हिस्सा मांस कारोबार, चमड़ा उद्योग, मत्स्य पालन, मुर्गी पालन आदि का भी है। मांसाहार का घरेलू कारोबार तथा निर्यात दिनोंदिन बढ़ने की खुशी का डंका बजाया जा रहा है। निर्यातित मांस में पंचानवें प्रतिशत भैंस-भैंसा का मांस होता है। क्या जरूरत है भारत जैसे अध्यात्मप्रधान देश को ऐसे दैत्यपूर्ण व्यापार से कमाने की? इसमें कारोबारी व बिचौलिए आदि तो पूरा फायदा उठाते हैं, जबकि गरीब-से-गरीब किसान अपने माल-मवेशियों को कसाई के हाथों बेचना महापाप समझता है। लेकिन किसानी हित के नाम पर किसानों को इसी ओर उत्प्रेरित करने का सघन अभियान चल रहा है। क्रूरतापूर्ण हिंसा के बिना मांस की व्यवस्था संभव नहीं, कुछ क्रूर हुए बिना तो इसका आस्वाद लेना भी मुश्किल है। इतना सब होने पर इसे खानेवालों पर भी क्रूरता का नशा चढ़ना स्वाभाविक है। इस प्रकार मांसाहार क्रूर-हिंसक समाज-निर्माण में सहायक बनता है। इसी वजह से 'मनुस्मषति' में मद्य, मांस को दैत्यों-पिशाचों का भक्ष्य पदार्थ बताया गया है। मांस के प्रबंध की अनुमति देने वाला, शस्त्र से मारने वाला, खंड-खंड करने वाला, खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला, लाने वाला, खाने वाला सब जीव-हिंसा के दोषी होते हैं -

अनुभन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहंता च खादकश्येति घातकः।।

निश्चित रूप से पशुवध अधिसूचना से मांस कारोबारी और मांसाहारी समाज थोड़ा प्रभावित होगा। यह मांस-आपूर्ति के वैध रास्तों पर न सही, अवैध तरीकों पर सीधे-सीधे असर डालेगी। वस्तुतः इसका उद्देश्य पशु बाजार को थोड़ा सुव्यवस्थित करना है; पशुवध को सर्वदा और सर्वथा तो कदापि नहीं, पर अवैध खरीद-बिक्री से गुलजार कत्लखानों पर नियंत्रण लाना है। कौन नहीं मानता कि बूचड़खाने के आसपास रहना, वहाँ से होकर गुजरना कितना दुर्भर व नारकीय होता है। कसाईगिरी और बूचडख़ाने अपनी प्रकषति में सदैव अमानुषिक ही होते हैं, लेकिन यहाँ कानूनी और गैरकानूनी का अंतर करना पड़ता है। मोदी व योगी सरकार ने ऐसा कुछ भी करने की कोशिश नहीं की है, जिससे हिंदुत्व या रामराज्य की परिकल्पना साकार होने का हौवा खड़ा हो। रामराज्य के प्रणेता श्रीराम ने जब राक्षसों द्वारा खाए गए लोगों के अस्थि-अवशेषों को देखा तो आहत हुए। तुलसीदास लिखते हैं -

अस्थि समूह देखि रघुराया।
पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया।।
निसिचर निकर सकल मुनि खाये।
सुनि रघुबीर नयन जल छाये।।

फिर तो जीवभक्षियों से धरती को मुक्त कराने का प्रण ही ले लिया -'निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाई प्रन कीन्ह।' माना कि मुनि पशु नहीं थे, लेकिन सनातनी परंपरा में जिन दस अवतारों की प्रमुखता है, उनमें तीन मत्स्य-मछली, कच्छप-कछुआ, वराह-सूअर तो पूरे-पूरे पशु और चौथे नरसिंह आधे पशु ही हैं। इसी प्रकार विष्णु का वाहन गरूड़, शिव का बैल, लक्ष्मी का उल्लू, सरस्वती का हंस, दुर्गा का सिंह, शिव के अंश भैरव का कुत्ता, इन्द्र का हाथी, यमराज का भैंसा, सूर्य का घोड़ा, गणेश का चूहा, अग्नि का भेंड़, वरुण का मत्स्य आदि मनुष्येतर प्राणी ही हैं। कपि हनुमान देव रूप में पूज्य हैं ही। गाय, सर्प, मोर, साल मछली आदि की अनेक स्थानों पर पूजा-अर्चना प्रचलित है। महाराणा प्रताप का घोड़ा भी दैवी शक्ति से कम कहाँ था, श्याम नारायण पांडेय के शब्दों में -'सामने पड़ी नदी अपार-/राणा ने सोचा इस पार/तब तक चेतक था उस पार।' कहने वाले इन सबको अंधविश्वास, कपोल कल्पना कह सकते हैं; किंतु अब स्थिति ऐसी बन गई है कि किसी

मनुष्येतर प्राणी में अद्‌भुत शक्ति का भी प्रादुर्भाव हो, तो लोग उसके मांस का स्वाद ही जानना चाहेंगे! वह दंड देने की स्थिति में होगा, तभी उसकी पूजा होगी, अन्यथा नहीं। आखिर क्यों आदमी को बकरी, बकरा, खरगोश, गाय, मुर्गा, कबूतर आदि का ही मांस प्रिय लगता रहा है; हाथी, बाघ, शेर, बाज, चील का नहीं? शायद इसलिए, क्योंकि शक्तिशालियों के शिकार में खुद उसे अपनामांस देना पड़सकता है।

धर्म के नाम पर बलि देने और प्रसाद रूप में मांस ग्रहण करने की कुप्रथा पुरानी है। जीव-जंतुओं का ही नहीं, नरबलि देने का उल्लेख पुराणों में और उदाहरण समाज में मिलते रहे हैं। उल्लेख होने का अर्थ यह नहीं कि वह उचित ही हो या उस समय का ट्रेंड भी हो, अपवाद एवं विकषति का भी उल्लेख होता है। दूसरी ओर, सभी जीवों में ईश्वरीय उपस्थिति बताकर जीव-हत्या को पूर्णतः निषिद्ध भी तो किया गया है -'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।' जैन मत में जीव-हत्या के प्रति संजीदगी श्लाघनीय है। 'ब्रह्मपुराण' में आजीवन निरामिष रहने को सौ गोदान के बराबर कहा गया है। गाय के साथ हिंदू आस्था जुड़ी है, नहीं तो जो बिल्कुल मांस नहीं खाते, उनके लिए सारे प्राणियों के मांस एक जैसे ही होते हैं? नहीं, उनकी भी गोमांस के प्रति अधिक वितष्णा होती है। बष्हत्तर हिंदू समाज में गोमांस सर्वाधिक वर्जित पदार्थ के तौर पर हराम है, जिसकी तुलना किसी दूसरे अखाद्य पदार्थ से नहीं की जा सकती। मांस मांस सब एक हो या न हो, पर मांस मांस तो है ही। संभवतः इसी कारण मानवमांसभक्षियों की जमात भी अस्तित्व में रही है, भले ही हिंदी कवि कहते रहें कि -

आदमी का आदमी करेगा क्या?
आदमी तो खुद ही है खाऊ
भले ही तो बिकाऊ भी हो,
वह तो किसी के किसी भी काम आता नहीं
उसका तो मांस कोई खाता नहीं,
चमड़े से जूता बनाता नहीं,
हड्‌डी से बेंट भी लगाता नहीं,
लहू हो लाल चाहे जितना भी,
डिनर वक्त काम आता नहीं।
(रमाकांत पाठक : हरिश्चन्द्र घाट)

भारत में अघोरी लोग श्मशान घाट पर मानव-लाशों का मांस खाते हैं, अन्य तरीकों से उसका जुगाड़ करने में लगे रहते हैं। फिजी देश को कभी नरभक्षी द्वीप के नाम से ही जाना था। वैसे आजकल मनुष्य का मांस सब जगह प्रतिबंधित है, फिर भी मानव-मांस खाने के आरोप में दुनिया भर में बहुत सारे लोग जेल की सजा काट रहे हैं, अनेक फाँसी पर भी लटकाए गए। इनमें कुछ ने स्वीकारा है कि आदमी का मांस स्वाद में बेजोड़ होता है। निठारी कांड में मानव-मांस-भक्षण की बात भी चर्चा में रही है। पियर्स पॉल रीड ने सन् 1974 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'अलाइव : द स्टोरी ऑफ द एंडिज सरवाइवर्स' में विमान दुर्घटना में लैटिन अमेरिकी कॉलेज टीम के जीवित बचे सदस्यों द्वारा मृत यात्रियों के मांसभक्षण का प्रामाणिक जिक्र किया है। 13 अक्टूबर से 22 दिसंबर, 1972 को राहत पहुँचने तक वे ऐसे ही जीवित फँसे रहे। सभी देशों में नरभक्षण को लेकर तरह-तरह की लोककहानियाँ प्रचलित हैं।

पक्ष और विपक्ष में सैकड़ों तथ्य-तर्क के साथ मांसाहार मनुष्य की रुचि, स्वाद व आहार से अभिन्नतः जुड़ गया है, 'मांस बिना सब घास रसोई' की सोच बन गई है। समाज इतना आधुनिक बन चुका है कि कैसे उसे मांस, मछली, अंडा, शराब खाने-पीने से रोका जा सकता है? किंतु शराब सहित अन्य नशीले पदार्थों पर प्रतिबंध जहाँ-तहाँ लगाना पड़ता है। मांसाहारी लोगों का तर्क है कि हूक-हाय किस चीज में नहीं है। दही में कीड़े होते हैं भले ही वे साधारण दृष्टि से न दिखें।

दवाइयों और सौंदर्य प्रसाधन वाले उत्पादों में भी जीव-जंतुओं पर क्रूरता करके बनी चीजों का इस्तेमाल होता है, साग-सब्जी, फल-फूल तो सजीव ही हैं। अंडा को शाकाहार मानने वाले भी कम नहीं हैं, पर यह पक्षी-भ्रूण के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार की प्रगतिशीलता के दूसरे ढंग का स्वर रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की कविता में पठनीय है -

हर पत्थर भगवान यहाँ का, हर पंडा पैगंबर है,
गाय यहाँ माता बन पुजती अब बकरी का नंबरहै।
यह ऋषियों का देश, घुली है भंग यहाँ के पानीमें,
नरकों का मनहूस बुढ़ापा, मिलता भरी जवानी में।

बात कविता में कही गई है, अतः अंतर्मन में प्रगति चेतना जगती है; नहीं तो गाय और बकरी को एक ही श्रेणी का कहना दंगा भड़काने जैसा है। कविता की शक्ति है कि जो बात गद्य के माध्यम से नहीं कही जा सकती, उसे ही कहने के लिए कविता करने की जरूरत पड़ती है। अस्तु, बकरी कमजोर प्राणी है, उसका मांस स्वादिष्ट है, इसलिए उस पर अत्याचार होना ही चाहिए - यह कहाँ का न्याय है? यहीं अकबर बीरबल की कहानी याद आती है। एक बार अकबर ने बीरबल को एक बकरी देकर कहा कि अब तक वह रोजाना जितना खाती रही है, उससे दुगना आहार खिलाने का यत्न किया जाए, किंतु आठ-दस दिनों के बाद भी उसका वजन तनिक भी नहीं बढ़ना चाहिए। बीरबल बकरी लेकर आए, वायदे के अनुसार उसे दुगुना आहार देने लगे और रात्रि के समय उसके सामने एक कसाई को बड़ा छुरा देकर बैठा दिया करते। दिन भर मस्ती से खाकर बकरी जितना वजन बढ़ाती, रात में कसाई के हाथ में हथियार की चमक देख-देखकर गमगीनी में उतना वजन कम हो जाता था। आदमी की तरह जानवरों के कमजोर, अस्वस्थ, अनुपयोगी हो जाने पर भी किसी को मारने का अधिकार नहीं मिल जाता। फिर बलप्रयोग उतना ही उचित है, जितना न्यनूतम जरूरी हो। 'महाभारत' में एकलव्य के विद्याभ्यास के दौरान हस्तिनापुर के कुत्ते ने जब भौंककर तंग करना शुरू किया, तब एकलव्य ने इस प्रकार प्रहार किया, जिससे कुत्ता सही-सलामत भी रहा और उसका भौंकना भी तत्क्षण बंद हो गया। 'भारत भारती' में इसका सजीव चित्रण है-

मुँह खोल कुत्ता भौंकने को, बंद ही जब तक करे,
भरजाए मुख तूणीर-सा पर क्या मजाल किवहमरे।

बहरहाल, कषषि, व्यवसाय, उद्योग, रोजगार, लौकिक रीति-नीतियों, धार्मिक विश्वासों, पर्यावरण इत्यादि से पशुधन को सीधे सन्नद्ध रखकर पशुवध पर अकुंश लगाना नितांत आवश्यक है, धीरे-धीरे इसका दायरा व्यापक किया जा सकता है। फिलहाल अधिक प्रतिबंध लगाने की बजाय परामर्श एडवाजरी और प्रचार-प्रसार द्वारा शाकाहार को प्रोत्साहित करना उचित है। कानून सख्ती से लागू करके, पशुवध की वैधता-सीमा संकुचित करके, मांस-मछली निर्यात पर पूर्ण प्रतिबंध लगाकर तथा मांसाहार उत्पादों पर टैक्स बढ़ाकर परोक्ष रूप से मांसाहार मुक्त समाज बनाने की दिशा में कदम आगे बढ़ाया जा सकता है।

भगवद्गीता के अनुसार, रसयुक्त, स्निग्ध, लंबे वक्त तक प्रभावित रखने वाला, मन को प्रिय भोजन सात्त्विक है -'रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।' कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक भोजन राजसी हैं और दुख, चिंता, रोग बढ़ाने वाले बासी, अधपके, दग्ध, अपवित्र आहार तामसी हैं। इस प्रकार मद्य, मांस, मछली, अंडा सब राजसी-तामसी की श्रेणी में आते हैं, इनसे मन-मिजाज भी वैसा ही बनता है। फल, अन्न, दुग्ध उत्पाद वाला शुद्ध-ताजा शाकाहार आत्मा, मन, बुद्धि, धर्म, संस्कषति, स्वास्थ्य, सौंदर्य की दषष्टि से उत्तम है। यह सब भी जीने के लिए न्यूनतम खाया जाए, न कि खाने के लिए जिया जाए। सात्त्विक, उपयोगी व पौष्टिक ही स्वादिष्ट लगे - इसकी रुचि व विवेक बनाना तथा भोजन के बंदोबस्त में दूसरों को न्यूनतम कष्ट हो - इसका ख्याल रखना भी जरूरी है।

ललित सौन्दर्य की पृष्ठभूमिः भक्ति और रीतिकाल

डॉ. रघुनन्दन प्रसाद तिवारी

भक्तिकाल और रीतिकाल लगभग इन पाँच सौ वर्षों में काव्य सहित सभी ललित कलाओं को एक समन्वित दृष्टि देने का साक्ष्य प्रस्तुत हुआ है। सांगीतिक अभिव्यक्ति को काव्य और चित्रकला में अपनाया गया है, इसी तरह काव्य और चित्र विधा को भी अन्य विधाओं में स्वीकारा गया है। नृत्यक मुद्राओं की मूर्ति और वस्तु शिल्प के माध्यमों से प्रस्तुति हुई है। ऐतिहासिक मध्यकाल में निर्मित कोणार्क, खजुराहो, रणकपुर, पूर्व से पश्चिम कर्क रेखा के समानान्तर जिन मंदिरों का निर्माण हुआ है, उन अनेक मंदिरों के वास्तु शिल्प का चयन संस्कृत काव्य शास्त्रों के अनुकूल हुआ है। मंदिरों में उनका आयाम अलंकरण रूप में न होकर समूचे आत्म के जीवन–व्यापार की अभिव्यंजना के रूप में हुआ, जो कि संगीत नृत्य की सापेक्षता व सभी ललित कलाओं की एकान्वित–विधा की अनुभूति कराता है। आज यह समस्त विश्व की ऐतिहासिक धरोहर है और इसी अनोखी– कोख से भक्ति और रीतिकाल का काव्य प्रवाहित रहा है।

सामान्यतः जीवन की परम्पराओं से प्राप्त समस्त कार्य–व्यापार ललित, उपयोगी और सामान्य कला रूपों में आते हैं। ललित कला ने मानवीय मूल्यों में मानव को माधुर्य, लय, गति, सौकुमार्य और कमनीयता का वरदान देकर, ग्राह्य और चिरंजीवी बनाया। वैसे कला सौन्दर्य का प्रतीक है और सौन्दर्य– प्रकृति, प्रस्तुति और मनुष्य के मन में भी है। इसी सौन्दर्य की संश्लिष्ट इकाई में, सभी ललित कलाओं की, एकांकी और मिलीजुली प्रस्तुति भक्ति और रीति काव्य में हुई है। यह जयदेव, विद्यापति, सूर, तुलसी से लेकर मीरा, घनानन्द सभी में उन्मुक्त व भरे पूरे रूप में है। अब जो खजुराहो के मंदिर देख रहा हो या सूर–बिहारी के काव्य में रमण कर रहा हो या फिर आज की कथक नृत्यांगना उमा शर्मा (दिल्ली), पार्वती दत्ता (औरंगाबाद), अथवा शंभू महाराज के पुत्र जय किशन महराज या राजेन्द्र गंगवानी (जयपुर) द्वारा प्रस्तुत सूर के पदों का गीत, वाद्य, नृत्य का समवेत अवलोकन कर रहा हो, सभी में सहृदय रसानंद में उद्वेलित होता रहता है। यही एकान्वित–समन्वित प्रस्तुति भक्ति और रीतिकाव्य में तरह–तरह की संकल्पनाओं, बिम्बों के माध्यम से मिलती है। 'कहत, नटत, रीझत, खींझत' में बिहारी कैसी गति दे रहे हैं। 'वारे तेरे नैन'–आँखों में क्या नहीं है। संगीत के माध्यम से, सभी भावों. संवेदनाओं की

अभिव्यक्ति हो जाती है। इस समूचे काव्य में मानवीय संवेदनाओं की अभूतपूर्व प्रस्तुति हुई है।

भक्ति और रीति काल के पाँच सौ वर्षों की विशिष्टता चित्र, मूर्ति और संगीत को आत्मसात करने की रही है। इस तरह का कार्य मूर्तिकला और चित्रकला में उपलब्ध होता है। कोणार्क की संगीतमय नृत्यत नारी प्रतिमाएँ विश्व के सहृदयों को आज भी आकर्षित कर रही हैं। खजुराहो, राजस्थान, हाम्पी के तत्कालीन मंदिरों की प्रतिमाएँ भी, इसी परिदृश्य में देखी जा सकती हैं। जहाँ तक चित्रकला का प्रश्न है, वहाँ रागमाला, बारहमासा, प्रेम कथाएँ, रामकथा, महाभारत आदि सभी का चित्रण, उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक समान रूप से मिलता है। रागमाला में प्रत्येक राग-रागनी की एक भावात्मक स्थिति की प्रस्तुति प्रेम के प्रसंग में होती है जिसमें चित्र का चित्रण- प्रेम की विभिन्न दशाओं की अभिव्यक्ति में है। उदाहरण के लिए रागनी टोड़ी के स्वरूप में नायिका को वीणा के साथ उजले पीले रंग में, हिरण के प्रति आकर्षित बताया जाता है। राग मालकोश नारी के लावण्य का प्रतीक है। भैरवी का गायन काल प्रातः का है। इसमें प्रातः नायिका सद्यस्नान पश्चात् शिव या किसी अन्य देवता की पूजा, नायक की प्राप्ति हेतु करती दिखाई देती है। नायिका भेद वयःसंधि के अनुसार चित्रकारों ने चित्रित किया है। यथार्थ में सरहपा से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक का हिन्दी काव्य संगीत की राग-रागनियों से आबद्ध है और दरबारों, आश्रयदाताओं की चित्रशालाओं में नृत्य, चित्र, संगीत और काव्य का माहौल रहा है। घनानन्द के पदों से तबला के बोल निकलते हैं। बिहारी में नृत्य और रंगों की छटा है। एक उदाहरण अष्टछापीय कवि कृष्णदास के ध्रुपद का श्री बृषभान नंदिनी नाचत लाल गिरधर संग' की रचना राग केदार और ताल झपताल में निबद्ध है। इसके अतिरिक्त इस ध्रुपद में कथक नृत्य की शब्दावली लाग डाट उरप तिरथ अवघट आदि भी प्राप्त होती है।

हिन्दी काव्य संगीत की राग-रागनियों से आबद्ध है और दरबारों, आश्रयदाताओं की चित्रशालाओं में नृत्य, चित्र, संगीत और काव्य का माहौल रहा है। घनानन्द के पदों से तबला के बोल निकलते हैं। बिहारी में नृत्य और रंगों की छटा है। एक उदाहरण अष्टछापीय कवि कृष्णदास के ध्रुपद का श्री बृषभान नंदिनी नाचत लाल गिरधर संग' की रचना राग केदार और ताल झपताल में निबद्ध है।

कुल मिलाकर भक्तिकाल और रीतिकाल के पाँच सौ वर्षों का हिन्दी साहित्य में वास्तु, चित्र, नृत्य, संगीत और काव्य की मिली-जुली एकात्मक प्रस्तुति विश्व साहित्य की अनमोल धरोहर है।

सादगी के प्रतीक थे डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

उमेश प्रसाद सिंह

देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जब सेवानिवृत्त हो गए तो उनके विदायी समारोह में तत्कालीन गृह मंत्री लालबहादुर शास्त्री ने कहा था कि 'यह विशाल राष्ट्रपति भवन, हमेशा के लिए याद करता रहेगा कि कभी इसमें भी एक साधु आकर रहा था। राजेन्द्र बाबू की यह सादगी उनके जीवन की महानता थी। यह सादगी-भरा रहन-सहन तथा ऊँचे दर्जे का चिंतन उन्हें अपने पूर्वजों से विरासत में मिला था। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का जन्म 3 दिसंबर, 1884ई. को बिहार राज्य के सारण जिले के जीरादेई ग्राम में हुआ था। विद्यार्थी जीवन उनका बड़ा शानदार था।

कॉलेज का प्रथम दिन

बीसवीं शताब्दी में कलकत्ता के प्रेंसीडेंसी कॉलेज का शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा नाम था। देश के अमीर लोगों के बच्चों का प्रवेश भी इस कॉलेज में मुश्किल से ही होता था। उसी समय एक देहाती बालक इस कॉलेज में पढ़ने की इच्छा लेकर पहुँचा। जब कॉलेज के प्राचार्य डॉ. पी.के. राय ने उस बालक का सर्टिफिकेट देखा तो नामांकन कर लिया। पहले दिन जब वह छात्र कॉलेज में गया तो देखा कि सभी बच्चे कोट, हैट, टाई आदि से सुसज्जित थे। वह चुपचाप क्लास में पीछे के एक बैंच पर बैठ गया। वह क्लास प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. जगदीश चन्द्र बोस का था। वह क्लास में आए और हाजिरी लेनी शुरू की। सब लड़के के क्रमांक पुकारे गए, सबने उत्तर दिए। इस देहाती छात्र को अपना रौल नंबर पता नहीं था। अंत तक वह इंतजार करता रहा। जब आखिरी नम्बर वाले छात्रों ने जवाब दे दिया और डॉ. बोस रजिस्टर बंद करने लगे तो वह छात्र खड़ा होकर कहा, 'मैं अपना नम्बर नहीं जानता हूँ, सर। प्रोफेसर ने उस छात्र की ओर देखा और कहा कि ठहरो मैंने अभी मदरसों के लड़कों की हाजिरी नहीं ली है। उन दिनों प्रथा थी कि मुसलमान लड़के नाम के लिए मदरसा के छात्र समझे जाते थे, पर वे प्रेसिडेंसी कॉलेज में पढ़ते थे। उनको फीस कम देनी होती थी। उनका नाम अलग रजिस्टर में लिखा जाता था।

प्रोफेसर ने पाजामा-कुर्ता वाले इस छात्र को मुसलमान समझ लिया था। इस पर देहाती छात्र ने पुनः कहा 'मैंने कॉलेज में आज ही नाम लिखवाया है। इसलिए क्रमांक नहीं जानता हूँ।' प्रोफेसर ने नाम पूछा और इस छात्र ने नाम बताया तो क्लास के सारे छात्र मुड़कर उसे देखने लगे। सभी छात्रों को जानकारी मिल चुकी थी कि इसी नाम का छात्र पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम आया है। प्रोफेसर ने

सम्मान के साथ उस बालक को आगे बुलाया। तब तक प्रिंसिपल भी आ गए। उन्होंने उस छात्र का परिचय कराया। वह छात्र कोई और नहीं, बल्कि राजेन्द्र प्रसाद थे, जो बाद में भारत के राष्ट्रपति बने।

नींद का हमला

राजेन्द्र बाबू को शाम में जल्दी सो जाने की आदत थी। सन् 1914 में जब वे वकालत के अंतिम वर्ष की परीक्षा दे रहे थे तब शाम को देर तक पढ़ने के लिए हाथ में पुस्तक लेते तो किताब के साथ ही नींद भी आ जाती थी। एक दिन उन्होंने सोचा इस प्रकार तो परीक्षा में सफलता नहीं मिलेगी। किसी तरह संध्या की नींद को रोकना चाहिए और कम से कम नौ बजे रात्रि तक पढ़ने का निश्चय किया। जब नींद आने लगी तो किताब हाथ में लेकर खड़े हो गए। उस पर भी जब नींद का हमला कम नहीं हुआ तो कमरे के अंदर टहल कर पढ़ने लगे। लेकिन एक बारगी हाथ से किताब नीचे गिरी और वे भी धड़ाम से कमरे के फर्स पर चित्त हो गए। कुछ चोटें आईं। तब से इस प्रयोग को खतरनाक समझकर छोड़ दिया। जल्दी सोने की आदत उन्हें बहुत बचपन से लगी थी। वह इतनी जल्दी सो जाया करते थे कि शाम का भोजन करने के लिए उन्हें जगाना कठिन हो जाता था।

इसी आदत के कारण जब तेरह वर्ष की आयु में उन्हें पालकी में बिठाकर शादी के लिए ले जाया जा रहा था, तो वह बारात के साथ दुल्हन के गाँव संध्या होते-होते पहुँचने से पहले ही सो गए थे। बड़ी मुश्किल से उन्हे जगाया गया और विवाह की विधियाँ पूरी की गई। किंतु समय पर काम करने की इसी आदत के कारण वह जीवन भर प्रातः चार बजे ही जग जाया करते थे। आज जो उनके द्वारा लिखी अच्छी पुस्तकें हमें प्राप्त हैं, वे सब इसी आदत का परिणाम हैं।

गाँधी जी से भेंट

सन् 1916 में लखनऊ में कांग्रेस का सम्मेलन हुआ। बिहार के प्रतिनिधि बड़ी संख्या में लखनऊ पहुँचे थे। उनमें कुछ लोग चम्पारन के थे। चम्पारन के नेता राजकुमार शुक्ल ने अपने क्षेत्र में हो रहे नील्हों की अत्याचारों की चर्चा की। सम्मेलन में ब्रजकिशोर बाबू का भाषण हुआ। इस पर गाँधी जी ने कहा कि मैं खुद चम्पारन जाकर स्थिति का आकलन करूँगा। अगले वर्ष कलकता में कांग्रेस का सम्मेलन हुआ। वहाँ से सीधे महात्मा गाँधी पटना आए। फिर मोतिहारी जाने का कार्यक्रम था। राजकुमार शुक्ल पटना में महात्मा गाँधी को लेकर सीधे राजेन्द्र प्रसाद के घर पर पहुँचे। उस समय घर पर सिर्फ एक नौकर था। उसने गाँधी जी को देहाती मवक्किल समझकर बाहर के बरामदे में ठहरा दिया। अगले दिन गाँधी जी चम्पारन चले गए।

गाँधी जी के चम्पारन पहुँचते ही उन पर 144 धारा की नोटिस तामिल हुई। उन्होंने राजेन्द्र प्रसाद के पास तार भेजा और यथाशीघ्र

मोतिहारी पहुँचने के लिए कहा। उसके पहले गाँधी जी का राजेन्द्र प्रसाद से विशेष संपर्क नहीं था। राजेन्द्र बाबू मोतिहारी चले गए। तब से गाँधी जी का राजेन्द्र बाबू पर अटल विश्वास हो गया।

सादगी की मूर्ति

सन् 1936 की बात है। राजेन्द्र बाबू किउल स्टेशन पर उतरने वाले थे। प्लेटफार्म पर एक छोर से दूसरे छोर तक राष्ट्रीय ध्वज लहरा रहे थे। गाड़ी आई, पर आप नजर नहीं आए। लोगों की उमंग ठंडी पड़ गई। हताश-उदास हो कर लोग बिखरने लगे। इतने में पता चला कि कल रात की गाड़ी से आकर मुसाफिर खाने में राजेन्द्र बाबू बैठे हैं।

भीड़ उस तरफ दौड़ पड़ी। सबने देखा कि काले कम्बल पर मोटे सूत की साफ चादर बिछी है, गंभीर मुख मुद्रा, प्रसन्न मुखमंडल, सौम्य शांत मूर्ति बाबूजी बैठे हैं। जयघोष से मुसाफिरखाना गूँज उठा। वे जयनाद कहने से रोकते हुए कहने लगे–'आप लोग शांत रहिए, संभलकर चलिए, बेचारे भिखारियों को धक्के लग जाएँगे।

राजेन्द्र बाबू बड़े संकोची स्वभाव के थे। एक बार रात्रि में देरी से इलाहाबाद पहुँचे तो पं. जवाहर लाल नेहरू के निवास स्थान आनन्द भवन तक ताँगे पर सवार होकर गए। उन्होंने नेहरू जी को सोने से जगाना उचित नहीं समझा और स्वयं बाहर एक टूटी हुई पलंग पर सो गए। रात में उनकी खाँसी से नेहरू जी जागे तो उन्हें उपर ले गए। ऐसे थे राजेन्द्र प्रसाद।

वे 25 जून, 1962 ई. को राष्ट्रपति पद से मुक्त हुए थे। इससे पूर्व 10 मई, 1962ई. को इसके पूर्व 10 मई को दिल्ली के रामलीला मैदान में उनके विदाई का समारोह आयोजित किया गया जिसमें हिंदी के प्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर ने कहा था–

नन्दिग्राम के भरत, राज-सर के निष्कलुष कमल हे।
जय चिराऊ भारत-परंपरा के नवीन संबंल है।
राज-दण्ड-धर पती तोधन संन्यासी मधुवन के।
जय अभंग व्रत सिंहासन-शोभित वैराग्य विमल ह
जनक-वंस की विभा, रत्न-दीपकअशोककेकुल के।
जय पुनीत गाँधी-गंगा के परम स्रोत उज्जवल हे।
अनल-मुक्त मन, वर वैष्णव जन, पर पीड़न भयहारी।
जय शीतल,जय निरभिमान,जयजयनिरीहनिश्छल हे।

12 मई 1962 को राष्ट्रपति पद से अवकाश प्राप्त करे वे पटना के सदाकत आश्रम में रहने लगे। वही 28 फरवरी, 1963 ई. को 'राम-राम' जपते हुए वे स्वर्ग सिधारे। राजेन्द्र बाबू ने कई पुस्तकों की रचना की। जिनमें 'आत्मकथा', 'खंडित भारत', 'चम्परान में सत्याग्रह', महात्मा गाँधी' और 'बिहार बापू के कदमों में' आदि प्रमुख है।

तत्पश्चात् पटना के सदाकत आश्रम में रहने लगे। 79 वर्ष की आयु में दिल्ली के रामलीला मैदान में उनके विदाई का समारोह आयोजित किया गया जिसमें सदाकत आश्रम में ही उनका स्वर्गवास हुआ।

जिन्ना के जीवन का आखिरी दिन

❒ दया प्रकाश सिन्हा

राँची के मौरीपुर स्थित सैनिक हवाई अड्डे से पाकिस्तान के सर्वोच्च शासक गवर्नर जनरल के निवास तक जाने वाली सड़क के किनारे एक अकेली 'एम्बुलैंस वैन' खड़ी थी। उसमें एक बहत्तर साल का बुड्ढ़ा मरीज पड़ा था। उस 11 सितम्बर, 1948 की शाम के छह बजे भी कराँची की गर्मी और उमस असहनीय थी। बंद एम्बुलैंस के भीतर तो और भी घुटन थी। एक नर्स और एक बूढ़ी औरत अपनी चिंता न करते हुए उस मृतप्राय मरीज के चेहरे पर भनभनाती मक्खियों को लगातार उड़ाने की कोशिश कर रही थी। उस कृशकाय मरीज में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह स्वयं हाथ उठा कर मक्खियों को उड़ा पाता। कौन था वह मरीज?

एम्बुलैंस के बाहर तेज रफ्तार में मोटरें सरसराती हुई आ-जा रही थीं। उनके चालकों को पता नहीं था कि वह एम्बुलैंस वैन वहाँ क्यों खड़ी है? उनको यह भी पता नहीं था कि वैन में अपने जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिनने वाला मरीज मोहम्मद अली जिन्ना हैं। पाकिस्तान का संस्थापक, पाकिस्तान का गर्वनर-जनरल, कायदे-आज़म मोहम्मद अली जिन्ना। लगातार सिगरेट पीने की आदत से जिन्ना का स्वास्थ्य सन् 1941 से प्रभावित होने लगा था। धीरे-धीरे रोग अंदर ही अंदर बढ़ता गया और फिर 1946-47 ई. तक जिन्ना गंभीर रूप से रोगग्रस्त हो गए। पारसी डॉक्टर जे.ए.एल. पटेल ने इसे छिपाया और काँग्रेसियों को बीमारी की हवा तक नहीं लगने दी। अगर काँग्रेसियों को पता लग जाता कि उनका प्रतिद्वंद्वी अपने जीवन के अंतिम चरण में है, तो उन्होंने इतनी आसानी से समर्पण करके देश का विभाजन स्वीकार नहीं कर लिया होता। कालांतर में जिन्ना की बीमारी बढ़ती ही गई। टी.बी. के साथ फेफड़ों में कैंसर की भी आशंका थी। डॉक्टरों ने सलाह दी कि जिन्ना को ऐसी जगह ले जाया जाए जहाँ वायु प्रदूषण-मुक्त और स्वास्थ्यवर्द्धक हो। उन्हें 24 नामक स्थान पर ले जाया गया। लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। उनकी हालत बिगड़ गई। तब 13 अगस्त, 1948 ई. को कोयटा ले जाए गए, लेकिन हालत बिगड़ती ही गई। 11

सितम्बर, 1948 ई. को हवाई जहाज से उनको करॉंची के सैनिक हवाई-अड्डे मौरीपुर लाया गया। वहॉं उनके स्वागत में कोई नहीं था—सिवाए मिलेटरी सेक्रेटरी कर्नल नोलर के। स्वागत में न पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत अली खॉं और जिन्ना के संबंधों में ठंढ़क जम गई थी। इसीलिए शायद जिन्ना के स्वागत में हाथों में हार लिए, नारे लगाती भीड़ नहीं थी और न कोई पाकिस्तानी सरकार का मंत्री या अधिकारी था। कर्नल नोलर को आदेश था कि केवल एक कार और एक एम्बुलैंस लेकर जिन्ना को लेने हवाई अड्डे जाएँ।शाम पॉंच बजे के करीब जिन्ना को लेकर एम्बुलैंस हवाई अड्डे से चली, लेकिन थोड़ा चलकर ही ठप्प हो गई। एम्बुलैंस पुरानी थी। इसलिए कर्नल नोलर, उसे वहीं सड़क के किनारे छोड़, कार से दूसरी 'वैन' लाने खुद गए। जब तब वह वापस नहीं लौटे, तब तक लगभग दो घंटे पाकिस्तान का संस्थापक वैन में अकेला पड़ा रहा। यह भी तो विकल्प था कि कर्नल नोलर 'वैन' को अपनी कार से बॉंध कर 'टो' करते हुए सीधे गवर्नर जनरल हाउस ले जाते। इससे जिन्ना को सड़क किनारे अकेले नहीं पड़ा रहना होता। ऐसा क्यों नहीं किया गया? नोलर ने जो किया, क्या पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत अली खॉं के इशारे पर ऐसा किया गया?डेढ़-दो करोड़ लोग घरों से बेदखल होकर बेघर हो गए थे। पाकिस्तान में विभाजन के समय 23 प्रतिशत हिन्दू थे। आज वहॉं मुश्किल से एक या डेढ़ प्रतिशत हिंदू बचे हैं। शेष मार दिए गए या मुसलमान बना लिए गए या भारत में शरणार्थी बनाकर ढकेल दिए गए। पाकिस्तान को हिंदुओं से मुक्त करके उसे 'पाक' बनाने के काम में गवर्नर जनरल मोहम्मद अली जिन्ना, प्रधानमंत्री लियाकत अली खॉं और पूरी मुस्लिम लीग पार्टी की सहमति, सहयोग और भागीदारी थी। इसके विपरीत भारत में गॉंधी, जवाहर लाल नेहरू और कॉंग्रेस पार्टी कृत-संकल्प थी कि जैसा हिंदुओं के साथ पाकिस्तान में हो रहा है, वैसा हिंदुस्तान में मुसलमानों के साथ नहीं होने दिया जाएगा।

पाकिस्तान की प्रतिक्रिया में जब हिंदुस्तान के हिंदुओं ने मुसलमानों के खिलाफ प्रतिक्रिया की तो गॉंधी जी ने आमरण अनशन कर दिया। इसके कारण हिंदुस्तान में मुसलमानों के विरूद्ध वैसे अत्याचार नहीं हुए, जैसे पाकिस्तान में हिंदुओं पर हुए थे। इसी कारण अगर आज हिंदुस्तान में मुसलमान प्रायः फल-फूल रहे हैं, तो इसका श्रेय गॉंधीजी और उनके शिष्यों को है और अगर आज पाकिस्तान में हिंदुओं की Ethinic Cleansing (हिंदुओं के पाकिस्तान से नेस्तनाबूदी की प्रक्रिया) के बावजूद कुछ बचे-खुचे हिंदू आज भी असुरक्षित हैं, तो इसका पूरा दायित्व मोहम्मद अली जिन्ना की विरासत को है। जिन्ना के इशारे और स्वीकृति से ही पाकिस्तान ने देश के विभाजन के दो महीने के भीतर कश्मीर पर आक्रमण कर दिया था। यह जिन्ना की विरासत है कि पिछले साठ सालों में पाकिस्तान का भारत पर आक्रमण का सिलसिला बंद नहीं हुआ है। कभी फौजें आक्रमण करती हैं तो कभी जेहादी।

विभाजन के पूर्व भी जिन्ना ने 16 अगस्त, 1946 ई. को 'सीधी कार्रवाई दिवस' (Di-

rect Action Day) घोषित किया था। स्पष्ट और सादी भाषा में यह धमकी थी, जिसका अर्थ था कि अगर देश का विभाजन नहीं किया गया तो मुस्लिम लीग के सदस्य हिंदुओं की बृहत मात्रा में हत्या करेंगे। जिन्ना की घोषणा के अनुरूप 16 अगस्त, 1946 ई. को मुस्लिम लीग के गुंडों ने लगभग 10,000 हिंदुओं की हत्या कुछ ही घंटों में कर दी थी, जिससे घबराकर गाँधीजी और नेहरू जी ने देश विभाजन का विरोध त्याग कर जिन्ना के आगे घुटने टेक दिए थे।जिन्ना ने अकेले दम पर भारत के एक तिहाई भाग पर मुस्लिम राज्य स्थापित कर दिया था। यह वह काम था जो मोहम्मद गौरी और बाबर ने बहुत बड़ी फौज तैयार कर आक्रमण और युद्ध के बाद किया था। जिन्ना के पास न फौज थी, न युद्ध किया। बस बुद्धि और अदम्य इच्छा शक्ति से देश का भूगोल बदल दिया। ऐसा शक्तिशाली पुरुष अपने जीवन के अंतिम दिन एक टूटी एम्बुलैंस वैन में अकेला पड़ा, गर्मी और भिन-भिनाती मक्खियों से जूझ रहा था। उन्हें अपने जीवन के वे दृश्य याद आ रहे होंगे, जब सिर्फ उसे देखने लाखों लोगों की भीड़ जुटती थी। कायदे-आजम जिन्दाबाद के गूँजते नारे जमीन-आसमान एक कर देते थे। जिस अंग्रेजी राज में कभी सूरज नहीं डूबता था, उसके वायसराय उसके आगे-पीछे घूमते थे। जवाहर लाल की बिसात ही क्या, उनके प्रतिद्वन्द्वी तो गाँधी थे। गाँधी को धूल चटा दी थी और उन्हें मजबूर कर दिया कि वे स्वयं देश के विभाजन के लिए काँग्रेसियों से अपील करने लगे थे। वे जानते थे कि उन्होंने नया भूगोल बनाया है। विश्व के मानचित्र पर एक नए देश का नाम लिख दिया है– पाकिस्तान। वे यह भी जानते थे कि इतिहास में उन्होंने जगह बना ली है। मुस्लिम इतिहास बिना उनके नाम का उल्लेख किए पूरा नहीं होगा। तभी तो पाकिस्तान में जिन्ना को 'औरंगजेब के बाद सबसे बड़ा मुसलमान माना जाता है।' जब दो घंटे बाद नई एम्बुलैंस आई, तो पुरानी एम्बुलैंस से उतारकर नई एम्बुलैंस में रखे जाते समय जिन्ना को अपनी असहायता, अकेलापन, बेबसी और दीन-हीन दशा का एहसास हुआ होगा। क्या उस समय मुस्लिम लीग के गुंडों द्वारा की गई हजारों हत्याएँ याद नहीं आई होंगी? क्या जवान, बूढ़ों-बच्चों और औरतों की कटी-फटी लाशें, सड़क पर बिखरे खून के चकत्तों और जलते घरों से भागते लोगों के दृश्य नहीं कौंधे होंगे? क्या अपराध बोध के बोझ का दबाव दिल पर नहीं महसूस किया होगा?रोते-झींकते नई एम्बुलैंस साढ़े आठ बजे रात गवर्नर-जनरल के निवास तक पहुँची। हवाई-अड्डे से गवर्नर जनरल निवास तक की 10 मील दूरी तय करने में साढ़े तीन घंटे लग गए। इन साढ़े तीन घंटों मे जिन्ना बीते जीवन का लेखा-जोखा लेते रहे होंगे। अपनों से ही अपमानित, अवहेलित और बहिष्कृत वे उन ऊँचाइयों को नाप रहे होंगे, जिनसे गिरकर आज वह इस हालत में बेबस-लाचार पड़े छटपटा रहे थे। गवर्नर-जनरल निवास पहुँचने के दो घंटों के भीतर ही 11 सितम्बर, 1948 ई. को 10.25 बजे रात्रि जिन्ना की मृत्यु हो गई। कहते हैं कि – 'वो आदमी सुखी होता है, जो अपने जीवन का सुख अपने मृत्यु तक ले जा सके।' इस पैमाने से क्या जिन्ना का जीवन सुखपूर्ण कहा जाएगा?

अपनी दुनियाँ स्वयं बनाए

श्रीराम शर्मा

जिस दुनियाँ में हम रहते हैं, उसमें श्रेष्ठता प्रयत्नपूर्वक तलाश करनी पड़ती है। निकृष्टता के तो हर दिशा में पहाड़ दिखाई देंगे। नैतिक पराभव और पतन की परिस्थितियाँ मक्खी-मच्छरों की तरह उपजती, बढ़ती रहती हैं, पर उपयोगी प्राणियों को तो प्रयत्नपूर्वक ढूँढ़ना और पालना पड़ता है। ओछापन, ओछी परिस्थितियों की ओर आकर्षित होता है। सुसंस्कृत मनुष्य सदा अल्पमत में रहे हैं, फिर श्रेष्ठता का प्रभाव क्षेत्र भी उतना विस्तृत नहीं होता, जितना निकृष्टता का पानी नीचे की ओर बहता है। मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियाँ उसे नीचे की ओर धकेलती ही नहीं, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की तरह अपनी ओर घसीटती भी हैं। सामान्य बुद्धि को सांसारिक विकृतियाँ ही प्रभावित करती हैं।

संकीर्ण स्वार्थपरता का इन दिनों दौर-दौरा है। आदर्शों की ओर कदम बढ़ाने की अपेक्षा लोग निकृष्ट क्रिया-कृत्यों की ही बात सोचते हैं। उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने की अपेक्षा लोगों को तात्कालिक लाभ कमाने में अधिक रुचि है, भले ही उसके लिए अनीति का मार्ग ही क्यों न अपनाना पड़ता हो। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हैं कि धूर्तों में अनेक सफल और सुसम्पन्न भी दीखते हैं। अनेक लोगों की सहज ही सामान्य बुद्धि का रुझान नीतिमत्ता की दूरदर्शिता अपनाने की अपेक्षा किसी भी उपाय से तुरंत लाभान्वित होने की ओर ही होता है। दृष्टि पसार कर हम अपने चारों ओर ऐसा ही वातावरण छाया देखते हैं। उसका प्रभाव भी पड़ता है। बहुमत का अनुकरण मनुष्य की एक ऐसी ही दुर्बलता है, जिसे कठिनाई से ही रोकना और बदलना संभव हो पाता है।

श्रेष्ठता की दिशा में चलना हो, उत्कृष्टता और आदर्शवादिता को लक्ष्य बनाना हो तो भी उसके लिए प्रेरक वातावरण बनाना पड़ेगा। ऐसा परिकर जहाँ हो, वहाँ रहने का भी प्रभाव पड़ता है। श्रेष्ठ व्यक्तियों का निकटवर्ती वातावरण सम्पर्क में आने वालों को प्रभावित करता है और उसकी गतिविधियों में उपयोगी परिवर्तन करता है। पर ऐसा वातावरण हर जगह, हर किसी के लिए कहाँ उपलब्ध होता है? फिर उसमें रह सकने की परिस्थितियाँ कितनों को उपलब्ध होती हैं। जन-साधारण को तो आजीविका उपार्जन एवं परिवार पोषण के क्रिया-कृत्यों में ही व्यस्त रहना पड़ता है। दो-चार दिन कहीं चले भी जाएँ तो उतने भर से काम भी क्या बनेगा? अधिक दिन सत्संग का लाभ लेने के लिए जा सकना आर्थिक तथा दूसरे कारणों से कहाँ बन पाता है?

ऐसी दशा में श्रेष्ठता की दिशा में अग्रसर कर सकने वाला प्रभावोत्पादक वातावरण अपने आप ही बनाना पड़ता है। मस्तिष्क पर छाया

छोड़ने वाला एक ऐसा समानान्तर संसार निर्मित करना होता है जो स्वार्थ संलग्न दुनिया के प्रभाव को निरस्त कर सके। यह निर्माण प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष ही हो सकता है। स्वाध्याय और चिंतन के सहारे यह निर्माण खड़ा किया जा सकता है। अपनी रुचि के भविष्य का मार्ग-दर्शन कर सकने वाले जीवन चरित्रों का संग्रह करना चाहिए। उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए और उनमें जो प्रेरक प्रसंग हों, अपनी वर्तमान परिस्थितियों में कार्यान्वित हो सकने योग्य हों, उन्हें अलग से नोट कर लेना चाहिए। जब भी अवकाश मिले, उन प्रसंगों के कल्पना चित्र मस्तिष्क में एक सुनियोजित फिल्म की तरह प्रस्तुत करने चाहिए। श्रेष्ठ मार्ग पर चलते हुए समुन्नत स्थिति तक पहुँचे हुए महामानवों की जीवनियाँ, गतिविधियाँ, नीतियाँ यदि अपने कल्पना-लोक में दृढ़तापूर्वक जड़े जमा सकें और अनायास ही स्मरण आती रहें तो समझना चाहिए कि बाहरी दुनिया के पतनोन्मुख प्रभाव को निरस्त कर सकने वाला स्वनिर्मित वातावरण बनकर तैयार हो गया।

मानसिक दुर्बलताएँ, अभ्यस्त आदतें, विकृत अभिरुचियाँ निकृष्टता की ओर खींचती हैं। कुटुम्बियों के स्वार्थ, मित्रों के दबाव तथा चलताऊ लोक-प्रवाह अपनी संयुक्त शक्ति से सामान्य मनुष्य को वैसी ही गतिविधियाँ अपनाने के लिए प्रेरित करते हैं, जैसी कि दुनियादारों ने अपना रखी है, श्रेष्ठता की प्रेरणा भर देने वाले और उत्कृष्टता की ओर बढ़ चलने का मार्ग-दर्शन करने वाले प्रेरक-प्रसंगों को तो इतिहास के पृष्ठों पर ही खोजा जा सकता है। आज भी वैसे जो लोग हैं, उनके साथ मानसिक संबंध ही बनाया जा सकता है। न तो अपने लिए उनके ही पास निरंतर रहना सम्भव है और न वे ही अपना निवास पड़ोस में बना सकते हैं। व्यावहारिक मार्ग एक ही है कि अपनी एक भावनात्मक दुनिया अलग ही बसाई जाए, जिसमें श्रेष्ठ महामानवों को ही निवास करने के लिए आमंत्रित किया जाए। उसमें प्रेरणाप्रद घटनाओं की हलचलें ही दृष्टिगोचर होती रहें, भले ही वे आज की न होकर भूतकाल में ही घटित क्यों न हुई हों। यही बात परामर्श के संबंध में भी है।

श्रेष्ठ सज्जनों से वार्त्तालाप कर सकना उनके साहित्य द्वारा बड़ी सरलतापूर्वक संभव हो सकता है। जीवित लोगों से परामर्श के लिये उनके पास जाने और उन्हें अवकाश होने-न-होने की कठिनाई आती है, पर स्वाध्याय के माध्यम से तो यह सुविधा हर घड़ी उपलब्ध हो सकती है। जिस भी महामानव से कुछ पूछताछ करनी हो उसके साहित्य में से अपने काम के ढूँढ़ने और पढ़ने का कार्य कठिन नहीं, सरल है। वह अपनी सुविधा के समय कभी भी किया जा सकता है।

स्वाध्याय से मार्ग-दर्शन मिलता है। घटनाएँ सामने आती हैं और परामर्श मिलते हैं, पर बात इतने भर से ही नहीं बन जाती। सोचना यह भी होगा कि प्रगति-पथ पर चलना आज की स्थिति में कितना और किस प्रकार सुलभ हो सकता है? योजना तो हर काम की बनानी

पड़ती है। उसके बिना तो छिट-पुट दैनिक कार्य भी नहीं हो पाते। कृषि-व्यापार आदि में योजनाबद्ध कदम उठाए जाते हैं। सरकारें तो योजना निर्माण विभाग पर ढेरों खर्च करती हैं। जीवन विकास की प्रक्रिया भी अनायास ही नहीं बन जाती और इस दिशा की प्रगति जादू की छड़ी घुमाने भर से संभव नहीं हो सकती। अनभ्यस्त को अभ्यास में उतारना निश्चय ही एक बड़ी बहादुरी का काम है। ढर्रे को बदलकर नये सिरे से नया आधार खड़े करने में सुदृढ़ संकल्प शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इस परिवर्तन में आने वाली कठिनाइयों की कल्पना करनी पड़ती है और उनके निवारण करने के उपाय खोजने होते हैं। किस क्रम से, क्या कदम कब उठाए जाएँ और किस तरह लंबी मंजिल को निश्चय और साहस के साथ पूरा किया जाए, इसकी सुव्यवस्थित रूप-रेखा बनाकर चलने से ही अभीष्ट मनोरथ सिद्ध होता है।

श्रेष्ठता के मार्ग पर चलने के सत्परिणामों की कल्पना करने से उत्साह बढ़ता है और उस दिशा में उत्कण्ठा प्रबल होती है। मात्र कठिनाई और हानि की बात सोचते रहने से मन छोटा पड़ता है और अचेतन उसे टालने या अस्वीकार करने की भूमिका बना देता है, फलतः सपने ज्यों के त्यों धरे रह जाते हैं। कल्पनाएँ तो उठती हैं, पर ऐसे ही पानी के बुलबुलों की तरह दूसरे ही क्षण समाप्त हो जाती हैं। महामानवों ने आदर्शवादिता को दृढ़तापूर्वक अपनाये रहने पर अंततः जिन सत्परिणामों को प्राप्त किया है, उन पर विचार करने और अपनी स्थिति भी कभी उन्हीं जैसी हो जाने का कल्पना-चित्र यदि मनःक्षेत्र पर अधिक स्पष्ट रूप से उतारा जा सके तो उससे निश्चय ही उत्साहवर्द्धक प्रेरणा मिलेगी और उधर कदम उठाने का साहस बढ़ेगा।

तत्काल थोड़ा-सा लाभ उठाने के प्रलोभन में भविष्य को अंधकारमय बना देने वाले लोगों के वृत्तांत तो अपने इर्द-गिर्द ही खोजे जा सकते हैं। उनके लिए इतिहास पढ़ने या साहित्य पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। कितने ही व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्होंने जिस-तिस तरह कमाया तो बहुत, पर उसे दुर्व्यसनों में गँवाते रहे। जो बचा, उसे कुपात्रों ने हड़प लिया। इन कुपात्रों में ठग-तस्कर भी हो सकते हैं और तथाकथित प्रियजन भी। उपयोगी वह, जिससे हितसाधन हो सके। अनुदान वह-जिससे सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ सकें। इन कसौटियों पर जो खरा नहीं उतरा, वह उपयोग और अनुदान अबुद्धिमत्तापूर्ण ही माना जाएगा। ऐसी ही विडम्बनाओं में उलझा और नष्ट हुआ जीवन किस प्रकार सफल कहा जाएगा। ओछा, हेय एवं निकृष्ट जीवन किसी प्रकार मौत के दिन पूरे कर लेने में क्या समझदारी रही? उचित और उपयुक्त यही है कि इस सुर-दुर्लभ अवसर का ऐसा उपयोग किया जाए, जिससे आत्मगौरव बढ़े, अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत हो, लोकश्रद्धा बरसे और ईश्वर की प्रसन्नता का आनन्द मिले। यह सार्थकता श्रेष्ठता के सम्मान पर चलने से ही संभव हो सकती है। स्पष्ट है कि ऐसे अवसर उन्हीं को मिलते हैं,

जिन्होंने अपने लिए एक आदर्शवादी प्रेरणाओं से भरा-पूरा भावनामय संसार अपने ही हाथों से गढ़ा और खड़ा किया है।

व्यक्तित्व की उत्कृष्टता के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता उस विचार की है जो आदर्शवादिता से ओत-प्रोत होने के साथ-साथ हमारी रुचि और श्रद्धा के साथ जुड़ जाए। यह प्रयोजन दो प्रकार से पूरा हो सकता है। एक तो आदर्शवादी उच्च चरित्र महामानवों का दीर्घ कालीन सान्निध्य और दूसरे उनके विचारों का अवगाहन व स्वाध्याय। वर्तमान परिस्थितियों में पहला तरीका काफी कठिन है। एक तो तत्त्वदर्शी महामानवों का एक प्रकार से सर्वनाश हो चला। श्रेष्ठता का लबादा ओढ़े कुटिल दिग्भ्रमित और उलझे हुए लोग ही श्रद्धा की वेदी हथियाये बैठे हैं। उनके सान्निध्य में व्यक्ति कोई दिशा पाना तो दूर, उलटा भटक जाता है। जो उपयुक्त हैं, वे समाज की वर्तमान परिस्थितियों को सुधारने के लिए इतनी तत्परता एवं व्यस्तता के साथ लगे हुए हैं कि सुविधापूर्वक लंबा सत्संग दे सकना उनके लिये भी संभव नहीं। फिर जो सुनना चाहता है, वही खाली बैठता है। इसलिए जिन सौभाग्यशालियों को प्रामाणिक महापुरुषों का सान्निध्य जब कभी मिल जाए, तब उतने में ही संतोष कर लेना चाहिए।

दूसरा मार्ग ही इन दिनों सुलभ है। स्वाध्याय के माध्यम से मस्तिष्क के सम्मुख यह वातावरण देर तक आच्छादित रखा जा सकता है, जो हमें प्रखर और उत्कृष्ट जीवन जी सकने के लिये उपयुक्त प्रकाश दे सके। बौद्धिक और आध्यात्मिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमें पेट की रोटी और तन के लिए कपड़ा जुटाने से भी अधिक तत्परता के साथ प्रयत्नशील होना चाहिए। इसे दैनिक नित्य कर्मों में शामिल रखा जाए। चारों ओर की परिस्थितियाँ जो निष्कर्ष निकालती हैं, उससे हमें निकृष्ट मान्यताएँ और गतिविधियाँ अपनाने का ही प्रोत्साहन मिलता है।

एक बार एक मित्र ने जॉन हार्शल नामक प्रख्यात परिश्रमी विद्वान से प्रश्न किया-'आपको सृष्टि में सर्वोत्तम वस्तु कौन-सी काम्य है?' तो उन्होंने मुस्कराते हुए उत्तर दिया-भाँति-भाँति के संयोग-वियोग आएँ, पर वह दृढ़तापूर्वक मेरे साथ जीवन के सुख और आनन्द का झरना बने रहें। जब मेरे खिलाफ हवा चले, लोग मुझे बुरा कहें, धिक्कारें, रास्ता रोकें, उस समय मैं बेपरवाह बना रहूँ। जीवन दुखों में मेरी ढाल बन जाए। ईश्वर से प्रार्थना करने का अवसर मुझे मिले तो मैं निवेदन करूँगा, हे प्रभु! मुझे विद्या पढ़ते रहने की रुचि दे। ज्ञान के धार्मिक महत्त्व को घटाए बिना यहाँ मैंने केवल उसके सांसारिक लाभ बताए हैं। विद्या की अभिरुचि कैसी आनन्ददायिनी है? संतोष कैसा उन्मुक्त साधन है? इतना ही मैंने यहाँ स्पष्ट किया है।

यदि मनुष्य का जीवन सामान्य भोगोपभोग और सामाजिक जीवन के कुछ ही स्तर पर ऊँचा चढ़ने में बीता, तो सारा मनुष्य का जीवन तुच्छ गया, यह समझना चाहिए। विद्वान

किंग्सले ने लिखा है– ज्ञान से ही मनुष्य में ऊँचे उठने की पात्रता आती है, सुख और वैभव भी ज्ञान के बिना नहीं मिलते, फिर आध्यात्मिक आनन्द उसके बिना मिलेगा भी कैसे? ईश्वर तक कोई चीज पहुँच सकती है तो वह विद्या ही हो सकती है।

संसार विलक्षण है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु विलक्षणता से परिपूर्ण है। संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जो आश्चर्यों के प्रति आकर्षित न होता हो। इस सृष्टि की रचना क्यों की गई और हमारा उसके प्रति क्या कर्त्तव्य है? हम शरीर क्यों धारण किए हुए हैं? ये प्रश्न जानने बड़े जरूरी हैं। इसके लिए अपनी धार्मिक वृत्ति को तेजस्विनी बनाकर आध्यात्मिक तत्त्व की खोज करनी चाहिए। ज्ञान ही धार्मिकता के साथ मिलकर विद्या कहलाती है, यह विद्या ही मनुष्य के बंधनों को मुक्त कराती है।

जिन-जिन महापुरुषों ने बड़े-बड़े काम किए हैं, उन्होंने वे काम समय का सदुपयोग, विद्याध्ययन और बौद्धिक प्रतिभाओं के विकास के द्वारा ही किए हैं। दिनभर में 24 घंटे होते हैं। आठ घंटे सोने और आठ घंटे काम करने के लिए निकाल दिए जाएँ तो अन्यान्य विकास कार्यों अथवा मनोरंजन के लिये आठ घंटे बचते हैं। विद्याध्ययन सर्वोत्तम मनोरंजन है। यदि इसके लिए प्रतिदिन दो घंटे का भी समय दिया जा सके तो संसार की अनेक वस्तुओं, परिस्थितियों, समस्याओं, जीवों, जीव-वृत्तियों, तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। बढ़े हुए ज्ञान की पूँजी से सांसारिक सुख भी भुनाए जा सकते हैं और पारलौकिक अनुभूतियों का सुख भी प्राप्त किया जा सकता है।

लोग अभाव और आर्थिक परिस्थितियों का रोना रोते हैं। कुछ लोगों को समय न होने की भी शिकायत होती है। मूल बात यह है कि ऐसे व्यक्तियों को विद्याध्ययन का न तो महत्त्व ही मालूम होता है और न उनकी रुचि ही होती है। अनेक दृष्टांतों से यह सिद्ध हो चुका है कि गरीबी विद्याभ्यास में बाधक नहीं है। पब्लियस, साइरस, इसप, किलन्थिस, वाशिंगटन और टेरन्स आदि प्रतिभाशाली विद्वानों का प्रारम्भिक जीवन बड़ी ही कठिनाइयों में बीता है तो भी उन्होंने ज्ञानार्जन की महत्ता प्रतिपादित की है। एपिक टेटस 10 वर्ष गुलाम रहा था। उसके मालिक ने उसका पैर ही तोड़ दिया था; किंतु बाद में उसने अपनी झोपड़ी में बैठ कर शास्त्रों का स्वाध्याय किया और विद्वता अर्जित की। रोम के तत्कालीन सम्राट आडियान भी उसके पाडित्य का लोहा मानते थे।

पाइथागोरस ज्यामिति शास्त्र का प्रकांड विद्वान हुआ है, वह जीवन शास्त्र और नैतिक दर्शन का भी पण्डित था। बहुत कम लोग जानते होंगे कि वह जंगल से लकड़ियाँ काट कर लाता था और उन्हें बेच कर अपनी आजीविका चलाता था।

टस्कनी की टुयोरण्टाइन एकेडेमी कौन्सिल के उच्च और महान् प्रतिष्ठा के पद पर नियुक्ति होने वाला प्रसिद्ध इटालियन लेखक जेली दर्जी था। उसने इतने ऊँचे पद पर पहुँच जाने पर भी अपनी दर्जीगिरी नहीं बन्द की। वह कहा करता

था कि मैंने इसी व्यवसाय के सहारे विद्या पाई है, मुझे ज्ञान से इतना प्रेम हो गया है कि अपनी इसी आजीविका के सहारे मृत्युपर्यंत ज्ञानार्जन करते रहने की हार्दिक अभिलाषा है।

इटली का मेटास्टासिओ जब बालक था तो शहर की सड़कों में गाने गाया करता था। उससे जो पैसे मिलते थे, उनकी किताबें और पत्र-पत्रिकाएँ खरीद कर अधिकांश समय पढ़ने में लगाया करता था। अन्त में उसकी भावना सिद्ध हुई और वह एक दिन इटली का मशहूर कवि हुआ। डॉ. जॉन प्रीडा जो बुर्स्टर के पोप नियुक्त हुए थे, उन्हें पढ़ने की अभिलाषा इतनी तीव्र हुई कि वह आक्सफोर्ड तक पैदल चल कर गए, फीस और खाने के लिए कोई सहारा नहीं था, इसलिए वह कॉलेज के होटल में काम करने वाले रसोइये की मदद करते थे। उसी से उन्हें इतने पैसे मिल जाते थे, जिससे किसी तरह फीस और रोटी का साधन बन जाता था। वनस्पति शास्त्र के जन्मदाता मीनियस भी इसी तरह एक मोची के पास काम करते हुए पढ़े थे।

यह उदाहरण इसलिए दिए गए हैं कि आर्थिक स्थिति विपरीत हो तो भी ज्ञान की आराधना की जा सकती है। पेट पालने के लिए कोई भी साधारण काम किया जा सकता है। ज्ञान की उपयोगिता और आवश्यकता देखते हुए उसका परित्याग करना अथवा उधर से मुख मोड़ना हानिकारक होता है। ज्ञान मनुष्य की शोध है। ज्ञान ही धन और ज्ञान ही जीवन है, उसके लिए किया गया कोई भी बलिदान व्यर्थ नहीं जा सकता।

समय के बदलाव में वैज्ञानिक उपलब्धियाँ तर्क के आधार पर प्रदर्शन करने के रूप में जब लाभदायक प्रतीत होती हैं तो उसके स्थान पर तप, संयम, परमार्थ जैसी उन मान्यताओं को क्यों स्वीकार कर लिया जाए, जो आस्तिकता, आध्यात्मिकता एवं धार्मिकता की दृष्टि से कितनी ही सराही क्यों न जाती हों, पर तात्कालिक लाभ की कसौटी पर उनके कारण घाटे में रहना पड़ता है।

आधुनिक समय के नये तर्क अपराधियों, स्वेच्छाचारियों से लेकर हवा के साथ बहने वाले मनीषियों तक को समान रूप से अनुकूल जान पड़ते हैं और मान्यता के रूप में अंगीकार करने में भी सुविधाजनक प्रतीत होते हैं तो हर कोई उसी को स्वीकार क्यों न करे? उसी दिशा में क्यों न चले? नीत्से ने दृढ़तापूर्वक घोषणा की है कि 'तर्क के इस युग में पुरानी मान्यताओं पर आधारित ईश्वर मर चुका है। अब उसे इतना गहरा दफना दिया गया है कि भविष्य में कभी उसके जीवित होने की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।' धर्म के संबंध में भी प्रत्यक्षवादी बौद्धिक बहुमत ने यही कहा है कि वह अफीम की गोली भर है, जो पिछड़ों को त्रास सहते रहने और विपन्नता के विरुद्ध मुँह न खोलने के लिए बाध्य करता है, साथ ही वह अनाचारियों को निर्भय बनाता है, ताकि लोक में अपनी चतुरता और समर्थता के बल पर वे उन कार्यों को करते रहें, जिन्हें अन्याय कहा जाता है। परलोक का प्रश्न यदि आड़े आता हो तो वहाँ से बच निकलना और भी सरल है।

जब उनकी स्थिति आडंबर भरी दीखती है, तो प्रतीत होता है कि प्रत्यक्षवादी नास्तिकता ही नहीं, प्रच्छन्न धर्माडंबरी भी लगभग उसी मान्यता को अपनाए हुए हैं। लोगों की आँखों में धूल झोंकने या उनसे अनुचित लाभ उठाने के लिए ही धर्म का ढकोसला गले से बाँधा जा रहा है। ईश्वर को भी वे न्यायकारी-सर्वव्यापी नहीं मानते। यदि ऐसा होता तो धार्मिकता की वकालत करने वालों में से कोई भी परोक्ष रूप से अवांछनीयता अपनाए रहने के लिए तैयार नहीं होता। तथाकथित धार्मिक और खुलकर इनकार करने वाले नास्तिक लगभग एक ही स्तर के बन जाते हैं।

यह स्थिति भयानक है। वस्तुओं की जिस कमी को विज्ञान ने पूरा किया है, यदि वह हस्तगत न हुई होती तो पिछली पीढ़ियों की तरह सादा जीवन अपनाकर भी निर्वाह हँसी-खुशी के साथ चलता रह सकता था। ऋषियों, तपस्वियों, महामानवों, लोकसेवियों में से अधिकांश ने कठिनाइयों और अभाव वाला भौतिक जीवन जीया है, फिर भी उनकी भौतिक या आध्यात्मिक स्थिति खिन्न व विपन्न नहीं रही। सच तो यह है कि वे आज के तथाकथित सुखी समृद्ध लोगों की तुलना में कहीं अधिक सुख-शांति भरा प्रगतिशील जीवन जीते थे और हँसता-हँसता ऐसा वातावरण बनाए रहते थे, जिसे सतयुग के रूप में जाना जाता था और जिसको पुनः प्राप्त करने के लिए हम सब तरसते हैं।

किसी देवी-देवता की पूजा-पत्री कर देने या धार्मिक कर्मकांड का सस्ता-सा आडंबर बना देने भर से पापकर्मों के दंड से सहज छुटकारा मिल जाता है। जब इतने सस्ते में तथाकथित पापों की प्रतिक्रिया से बचा जा सकता है तो रास्ता बिलकुल साफ है। मौज से मनमानी करते रहा जा सकता है और उससे कोई कठोर प्रतिफल की आशंका हो, तो पूजा-पाठ के सस्ते-से खेल-खिलवाड़ करने से वह आशंका भी निरस्त हो सकती है।

समय का प्रवाह वैज्ञानिक प्रगति के साथ भौतिकवाद का समर्थक होता जा रहा है। सच तो यह है कि जो लोग धर्म और अध्यात्म को चर्चा-प्रसंगों में मान्यता देते हैं, वे भी निजी जीवन में प्रायः वैसे ही आचरण करते देखे जाते हैं, जैसे कि अधर्मी और नास्तिक करते देखे जाते हैं। धर्मोपदेशक से लेकर धर्मध्वजियों के निजी जीवन का निरीक्षण-परीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि अधिकांश लोग उस स्वार्थपरता को ही अपनाए रखते हैं जो अधार्मिकता की परिधि में आती है।

आडंबर, पाखंड और प्रपंच एक प्रकार से प्रच्छन्न नास्तिकता ही है, अन्यथा जो आस्तिकता और धार्मिकता की महत्ता भी बखानते हैं, उन्हें स्वयं तो भीतर और बाहर से एकरस होना ही चाहिए था।

जब उनकी स्थिति आडंबर भरी दीखती है, तो प्रतीत होता है कि प्रत्यक्षवादी नास्तिकता ही नहीं, प्रच्छन्न धर्माडंबरी भी लगभग उसी मान्यता को अपनाए हुए हैं। लोगों की आँखों में धूल झोंकने या उनसे अनुचित लाभ उठाने के लिए ही धर्म का ढकोसला गले से बाँधा जा रहा है। ईश्वर को भी वे न्यायकारी-सर्वव्यापी नहीं मानते। यदि ऐसा होता तो धार्मिकता की वकालत करने वालों में से कोई भी परोक्ष रूप से अवांछनीयता अपनाए रहने के लिए तैयार नहीं होता। तथाकथित धार्मिक और खुलकर इनकार करने वाले नास्तिक लगभग एक ही स्तर के बन जाते हैं।

यह स्थिति भयानक है। वस्तुओं की जिस कमी को विज्ञान ने पूरा किया है, यदि वह हस्तगत न हुई होती तो पिछली पीढ़ियों की तरह सादा जीवन अपनाकर भी निर्वाह हँसी-खुशी के साथ चलता रह सकता था। ऋषियों, तपस्वियों, महामानवों, लोकसेवियों में से अधिकांश ने कठिनाइयों और अभाव वाला भौतिक जीवन जीया है, फिर भी उनकी भौतिक या आध्यात्मिक स्थिति खिन्न व विपन्न नहीं रही। सच तो यह है कि वे आज के तथाकथित सुखी समृद्ध लोगों की तुलना में कहीं अधिक सुख-शांति भरा प्रगतिशील जीवन जीते थे और हँसता-हँसता ऐसा वातावरण बनाए रहते थे, जिसे सतयुग के रूप में जाना जाता था और जिसको पुनः प्राप्त करने के लिए हम सब तरसते हैं।

भौतिक विज्ञान के सुविधा-साधन बढ़ाने वाले पक्षों ने समर्थजनों के लिए लाभ उठाने के अनेकों आधार उत्पन्न किए हैं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं। बहिरंग की इसी स्तर की चमक-दमक को देखकर अनुमान होता है कि विज्ञान ने अपने समय को बहुत सुविधा-संपन्न बनाया है। परंतु दूसरी ओर तनिक-सी दृष्टि मोड़ते ही परदा उलट जाता है और दृश्य ठीक विपरीत दीखने लगता है। सुसंपन्न, समर्थ, चतुर लोग संख्या में बहुत कम हैं। मुश्किल से दस हजार के पीछे दस। विज्ञान द्वारा उत्पादित सुविधा-सामग्री में से अधिकांश उन्हीं के हाथों में सीमित होकर रह गई है। उन्होंने जो बटोरा है, वह भी कहीं आसमान से नहीं टपका, वरन् दुर्बल दीख पड़ने वाले भोले भावुकों को पिछड़े हुए समझकर उन्हीं के अधिकारों का अपहरण करके वह संपन्नता थोड़े लोगों के हाथों एकत्रित हुई है, जिसे विज्ञान की देन, युग का प्रभाव, प्रगति का युग आदि नामों से श्रेय दिया जाता है। इस एक पक्ष की बढ़ोतरी ने अधिकांश लोगों का बड़ी मात्रा में दोहन किया है। दृष्टिगोचर होने वाली प्रगति क्या वास्तविक प्रगति है? इसके पीछे अधिकांश को पीड़ित, शोषित व अभावग्रस्त रखने वाला कुचक्र तो काम नहीं कर रहा है?

मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम क्यों हो? राकेश

मातृभाषा में अध्ययन-अध्यापन द्वारा विभिन्न विषयों को समझने और ज्ञान-संपदा को सुरक्षित रखने में सहायता मिलती है। जहाँ भी कला, विज्ञान, गणित, वाणिज्य आदि विषय मातृभाषा से इतर भाषा में पढ़ाए जाते हैं, वहाँ कक्षा में अनेक विद्यार्थी उन विषयों का बहुत-सा भाग गहराई से समझ नहीं पाते। प्रारंभिक कक्षाओं में तो सर्वत्र ही तथा माध्यमिक स्तर पर ग्रामीण विद्यालयों में कई विषयों की पठन-सामग्री को समझने में छात्रगण पूर्णतः वंचित रह जाते हैं। गाँवों के स्कूलों में आठवीं कक्षा तक के छात्र दुर्भाग्यवश अंग्रेजी का आधारभूत ज्ञान न होने से यदि शहरी स्कूलों में प्रवेश ले लेते हैं तो उच्च विद्यालय या इंटरमीडिएट स्तर पर विज्ञान या वाणिज्य अंग्रेजी भाषा में पढ़ाए जाने वाले विषयों को ठीक से न समझने के कारण अपेक्षित अंक अर्जित नहीं कर पाते। भावी जीवन में विषय का ठीक-ठाक ज्ञान न रखने से ढंग की नौकरी नहीं प्राप्त कर पाते।

मातृभाषा में शिक्षण देने से शिक्षार्थी को विषय सुगमता से हृदयंगम हो जाता है तथा परीक्षा के समय वह उसे परीक्षण-पुस्तिका में भली भाँति लिखकर अच्छे अंक प्राप्त कर पाता है। एक तो स्मरण-शक्ति पर जोर नहीं पड़ता तथा पढ़ा हुआ विषय बहुत समय तक याद भी बना रहता है। मातृभाषा में स्वयं शिक्षक भी बिना पुस्तक की सहायता से पढ़ाते देखे गए हैं, अन्यथा पुस्तक या अपने पहले से तैयार नोट की मदद लेना जरूरी-सा हो जाता है।

संविधान में अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व व प्रभाव को बने रहने दिया गया, इसके दुष्परिणाम हमें आज भी भोगने पड़ रहे हैं। यद्यपि हिंदी का विरोध दक्षिण के राज्यों द्वारा किए जाने पर और राष्ट्रीय एकता व अखंडता की रक्षा के नाम पर ही ऐसा प्रावधान किया गया। नेहरू व इंदिरा के युग में औपनिवेशिक प्रभाव के चलते शिक्षण का माध्यम आंग्ल-भाषा अधिकांश राज्यों में बना रहा, जिसे परवर्ती सरकारों ने पूर्ण रूप से हटाने का साहस नहीं किया। हिंदी भाषी राज्यों में त्रिभाषा सूत्र ईमानदारी से लागू नहीं किया गया। कम-से-कम दक्षिण की किसी एक भाषा को पाठ्यक्रम में शामिल करके शिक्षार्थियों को मध्यविद्यालय या माध्यमिक स्तर पर प्रोत्साहित किया जा सकता था। हालाँकि दक्षिण के दो राज्यों केरल व कर्नाटक में सरकारों ने त्रिभाषा सूत्र को विद्यालयों में लागू किया तथा हिंदी प्रचार-सभाओं द्वारा भी हिंदी के पक्ष में माहौल बनाया गया। अंग्रेजी इस देश में आठ प्रतिशत लोग ही बोलते हैं। इन अंग्रेजी बोलने वालों में दो-तिहाई लोग तो दक्षिणी राज्यों के हैं, जबकि उत्तर भारत में अंग्रेजी में लिखना-बोलना अपेक्षाकृत बहुत कम है।

कार्पोरेट घराने और उच्च सरकारी अधिकारी जो उच्च अभिजात्य वर्ग के हैं, इस औपनिवेशिक भाषा की गुलामी को बरकरार रखने के पक्ष में माहौल बनाये हुए हैं। सरकारी नीति एवं अभिजात्य वर्ग के निहित स्वार्थ हमारी राष्ट्रीय भाषाओं को शिक्षण का माध्यम बनाने में अड़चनें खड़ी करते रहते हैं। विश्व के विकसित देश चीन, रूस, जर्मनी, फ्रांस में शिक्षण का माध्यम उनकी अपनी भाषाएँ हैं जो बहुत समृद्ध शब्द-संपदा और ज्ञान-संपदा से परिपूर्ण हैं। वहाँ पर कॉलेज एवं विश्वविद्यालयों में शिक्षण तथा शोध-अनुसंधान अपनी भाषाओं में ही किया जाता है। मातृभाषा में विचारों और भावनाओं को सहज भाव से अभिव्यक्त किया जा सकता है तथा ज्ञान की विविध विधाओं तक पहुँच बनाना सरल होता है। सूचना और समाचार के माध्यम में मातृभाषा की बढ़ती उपस्थिति से सत्ताधारी वर्ग जाने क्यों आशंकित रहता है? निहित स्वार्थों के सुनियोजित षड्यंत्रों के बावजूद भारतीय भाषाओं के अखबार व चैनल अपनी पाठक-दर्शक संख्या में निरंतर बढ़ोतरी कर रहे हैं। यथास्थितिवादी अभिजात्य वर्ग के स्वार्थों और हितों को निश्चय ही यह कालांतर में चोट पहुँचाएगा, यह तथ्य हम जानते हैं। यह एक सकारात्मक प्रवृत्ति है; किंतु जनसाधारण में अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में पढ़ाने तथा प्राथमिक स्तर पर इस विदेशी भाषा का बोझ लादकर उनके भविष्य को सुरक्षित देखना आश्चर्य में अवश्य डालता है। इसका प्रमुख कारण है कि अभी भी उच्च पदों पर चुने जाने का पासपोर्ट अंग्रेजी बनी हुई है। अंग्रेजी ही सरकारी विभागों, बड़े औद्योगिक संस्थानों और न्यायिक एवं सैन्यबलों के अधिकारियों की संपर्क भाषा के रूप में विद्यमान है। इन सभी महत्त्वपूर्ण सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थानों में इसके द्वारा सारे कार्य-व्यापार संपादित एवं निष्पादित हो रहे हैं। अधिकांश समाजशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक मातृभाषा में शिक्षण दिये जाने के मत का दृढ़ समर्थन करते हैं और इससे होने वाले राष्ट्र के विकास एवं उन्नति की ओर ध्यानाकर्षित करते हैं। हमारे देश में भाषायी विविधता को कायम रखने तथा बच्चों का सर्वतोमुखी विकास करने के लिए भी मातृभाषा में शिक्षण अनिवार्य आवश्यकता है। समय-समय पर कुछ राज्य सरकारें प्राथमिक स्तर पर ही नहीं, माध्यमिक स्तर पर भी मातृभाषा को शिक्षण का माध्यम घोषित करने का साहस जुटाती रही हैं, उदाहरणार्थ पश्चिम बंगाल की साम्यवादी सरकार ऐसा कर चुकी है। वैश्विक स्तर पर यह भी सच है कि विगत दशक में अंग्रेजी अन्य भाषाओं की तुलना में शोध-अनुसंधान की भाषा बन गई है। इसके दो कारण हैं। एक तो सोवियत संघ का विघटन तथा अमरीका के नेतृत्व में एक ध्रुवीय व्यवस्था की स्थापना।

भाषायी और सांस्कृतिक विविधता के लिए मातृभाषा को प्रारम्भिक स्तर पर शिक्षण के माध्यम के रूप में अनिवार्य घोषित करना होगा। विद्यार्थी की इच्छा और क्षमता को

देखकर ही उसे मातृभाषा से अलग भाषा में शिक्षण दिया जाए; क्योंकि तब तक अनेक छात्र-छात्राएँ माध्यमिक स्तर पर अंग्रेजी में प्रवीणता प्राप्त कर चुके होते हैं। भारत के कई राज्यों में अंग्रेजी माध्यम के प्राइवेट स्कूलों को यदि छोड़ दें तो वहाँ छात्रगण अपनी मातृभाषा में ही शिक्षा पा रहे हैं; किंतु माध्यमिक स्तर पर आते ही अंग्रेजी भाषा को शिक्षण का माध्यम बना दिया गया है। यद्यपि यूरोप के देश केवल विश्वविद्यालय स्तर पर ही कतिपय विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी को शिक्षण का माध्यम बनाते दिखे हैं। जर्मनी, फ्रांस और हालैंड में कुछ विश्वविद्यालयों में ही अंग्रेजी की ऐसी भूमिका है। वहाँ शोध-प्रबंध भी अंग्रेजी में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। हमारे यहाँ भी अंग्रेजी के वर्चस्व को तोड़ा जा सके और उसका प्रभाव-क्षेत्र सीमित किया जा सके, तो यह देशहित में होगा। अंग्रेजी में अल्पज्ञता को भी मातृभाषा में पटुता से वरीयता देकर लोग हीनता का परिचय देते हैं।

हमारे देश में अनेक राज्यों में हिंदी को सरलता और सहजता से स्वीकार किया गया है। कई राज्यों में राजभाषा से इतर भाषा के लाखों जानकार उपलब्ध हैं, जो कि आपको भ्रमण और प्रवास के समय अवश्य ही दिखेंगे। जो लोग उत्तर-पूर्वी और दक्षिण भारत के राज्यों में थोड़े दिन रह कर आए हैं, वे इस बात को ठीक से बतला सकेंगे कि किस प्रकार क्षेत्रवाद और भाषावाद की उग्र प्रवृत्तियों के बावजूद सहयोग, मैत्री और सौहार्द के द्वारा राष्ट्रीय एकता और अखंडता की रक्षा के लिए नागरिक प्रयत्नशील एवं उत्साहपूर्ण दिखते हैं। इसमें राज्य की भूमिका तो है ही, नागरिक-समाज और संस्कृति, कला एवं अनुवाद के क्षेत्रों के लोगों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। छात्र एवं युवा वर्ग को देश-भ्रमण एवं परस्पर संपर्क से एक सकारात्मक वातावरण तैयार करना होगा। बहुलवादी समाज एवं बाल और युवा दोनों वर्गों के सर्वांगीण विकास के लिए मातृभाषा में शिक्षण और अन्य भाषाओं का ज्ञान भी जरूरी है। आश्चर्य है कि जिस तथ्य को आज से दो सौ साल पहले साम्राज्यवादी शक्तियों ने समझ लिया था, उसे हम आज तक क्यों नहीं ठीक से समझ पाए? अंग्रेजों ने चाहे अपने शासन के आधार को पक्का करने के लिए ही सही, लेकिन हिंदुस्तान में हिंदी के महत्त्व को समझा था। फोर्ट विलियम कॉलेज भी अंग्रेजी नौकरशाही को भारतीय जनता की भाषा हिंदी व उर्दू की जानकारी देने के लिए स्थापित किया गया था। इस संदर्भ में कॉलेज के संस्थापक लार्ड वेलेजली ने 1802 ई. में इंग्लैंड के अपने मित्रों को लिखा था–'अगर यह कॉलेज नहीं रहेगा तो साम्राज्य अवश्य ध्वस्त हो जाएगा।' वस्तुतः देश की जनता की नब्ज पहचानने के लिए उस देश या क्षेत्र की मातृभाषा पर गहरी पकड़ आवश्यक है, इस तथ्य को आज तक हमारा शासक वर्ग समझ नहीं सका है। मातृभाषा में भाव-संवेदनाओं का सीधा आदान-प्रदान होता है, जबकि इससे अलग अन्य भाषा में भावों से निकटतम शब्दावली द्वारा काम चलाना पड़ता है।☆

हाँ, मेहरबान

एक दिन बादशाह बीरबल से बोले, 'जिन लोगों के नाम के अंत में या उनकी पदवी के आखिर में 'वान' शब्द होता है, वे बड़े बदमाश तथा झगड़ालू होते हैं, जैसे पहलवान, गाड़ीवान, दरबान इत्यादि।

बीरबल ने स्वीकृति में कहा, 'हाँ, मेहरबान।'

बादशाह झेंप गए, क्योंकि बीरबल ने बातों-बातों में बादशाह के गलत विचार को काट दिया था।

दो बराबर एक माह

एक बार बादशाह अकबर ने बहुत सोच-विचार के बाद यह निश्चय किया कि दो माह का एक माह नियत करना चाहिए। इस बारे में बीरबल से राय लेने के लिए बादशाह ने अपना निश्चय सुनाया। बीरबल ने बादशाह के निश्चय की तारीफ करते हुए कहा कि इससे संसार का भी उपकार होगा, क्योंकि 15 दिन की बजाय चाँदनी रात एक माह तक रहेगी।

बीरबल की इस व्यंग्योक्ति पर तथा स्वयं को ऐसा करने में असमर्थ जान कर बादशाह बहुत शर्मिंदा हुए।

बुद्धिहीन वैज्ञानिक

एक बार चार मित्र यात्रा पर निकले। उनमें तीन 'बुद्धिहीन वैज्ञानिक' थे और एक 'बुद्धिमान अवैज्ञानिक'। मार्ग में उन्हें एक मरे हुए शेर का अस्थि-पंजर मिला। बुद्धिहीन वैज्ञानिकों ने सोचा कि क्यों नहीं हम अपनी विद्या की परीक्षा कर लें। तुरंत एक ने शेर का अस्थि-संचय किया, दूसरे ने उसमें चर्ममांस और रुधिर संचारित किया और तीसरा उसमें प्राण डालने ही वाला था कि चौथे बुद्धिमान अवैज्ञानिक ने कहा–''अरे-अरे, यह आप क्या कर रहे हैं?

आप सिंह को जीवित करने जा रहे हैं। यह जीवित होते ही हमें खा जायेगा। पहले अपनी रक्षा का उपाय तो कर लो।'' लेकिन उसकी बात किसी ने नहीं मानी।

लाचार, वह अकेला वृक्ष पर चढ़ गया। उधर तीसरे ने जैसे ही उसमें प्राण डाले, शेर जीवित होकर उन तीनों को खा गया।

प्रत्यक्ष को देखने वाला आज का संसार भी इन बुद्धिहीन वैज्ञानिकों की तरह है। जो शरीर के लिये तो साधन बढ़ाते चला जा रहा है, और बिना परिणाम जाने प्रयोग पर प्रयोग किए जा रहा है, पर आत्मा की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता।☆